24

परिसंवाद

तत्त्वमीमांसा का जन्म और निधन

गोविन्दचन्द्र पांडे

दयाकृष्ण, राजेन्द्र स्वरूप भटनागर, यशदेव शल्य

गोविन्दचन्द्र पांडे:- किसी भी वस्तु के स्वरूप का निर्धारण उसके विस्तृत एवं घनिष्ठ परिचय के बिना ठीक-ठीक नहीं किया जा सकता, क्योंकि अधूरे परिचय पर आधारित निर्णय अव्यापक होने के कारण वस्तु से व्यभिचरित होगा। अत: वस्तु के लक्ष्य को अव्याप्ति दोष से बचाने के लिए लक्ष्य के सभी उदाहरणों का परिचयात्मक ज्ञान आवश्यक है।

इसके विरोध में यह कहा जा सकता है कि लक्ष्यों के भिन्न-भिन्न असंख्य रूप हो सकते हैं। उदाहरण के लिए काल-भेद से या आगन्तुक संबंधों के द्वारा किसी भी लक्ष्य के असंख्य औपाधिक विशेषणों की कल्पना की जा सकती है। डीनासॉर नाम का पशु अब नहीं मिलता किन्तु उसकी विद्यमानता के काल का निर्देश कालान्तर की अपेक्षा से असंख्य रूप में किया सकता है, क्योंकि काल-क्रम में डीनासॉर का काल, असंख्य अन्य काल-विभागों से असंख्य अलग-अलग आपेक्षिक सम्बन्ध रखता है। आज से वह पूर्ववर्ती था, आने वाले कल से वह अधिक पूर्ववर्ती होगा, इत्यादि। डीनासॉर के अपनी विद्यमानता के काल में और उसके प्रत्येक विभाग में असंख्य क्षण होने के कारण डीनासॉर के असंख्य क्षण-भेद-विशिष्ट उदाहरण मानने होंगे। विश्व के अन्य अनियत-संख्यक पदार्थों के असंख्य कालापेक्षी रूपों से और समस्त अन्य दैशिक

पदार्थों के असंख्य विभागों और प्रविभागों से सम्बन्ध-भेद के कारण भी डीनासॉर के असंख्य सम्बन्ध-भेद-विशिष्ट रूप कल्पनीय हैं। इस अनन्त भिन्नता के कारण किसी भी लक्ष्य से समग्र परिचय सम्भव नहीं है और उसके अभाव में लक्षण की अव्याप्ति अपरिहार्य है, ऐसा प्रतीत होता है।

इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि सभी सम्बन्ध सम्बन्धियों के स्वरूप में विशेषता नहीं जोड़ते।[1] उदाहरण के लिए स्थिर पदार्थ क्षण-भेद से विभिन्न नहीं होते और न दैशिक अवस्थिति मात्र के बदलने से पदार्थ बदल जाते हैं। अन्यथा वस्तुओं का न अविकृत रूप में संरक्षण सम्भव होगा, न देशान्तर-नयन। पुनश्च, प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तुओं से भिन्न होती है; इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक वस्तु के परिचय के लिए शेष सब वस्तुओं का परिचय आवश्यक है। प्रत्येक वस्तु का एक अपना भावात्मक या विध्यात्मक रूप होता है, उससे परिचय वस्तु के अशेष वस्त्वन्तर से भेद का परिचय होता है। उदाहरण के लिए घट-ज्ञान से घट के अन्य पदार्थ से भेद करने की समर्थता उपजती है। पटादि के ज्ञान से घट की उनसे भिन्नता समर्थित होती है किन्तु घट के स्वरूप के ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं होती। प्रत्येक वस्तु का एक स्थिर और पृथक् स्वभाव है और उस स्वभाव से युक्त वस्तु के उदाहरणों में उतनी ही संख्या अभीष्ट है जितने से उस स्वभाव के विभिन्न पक्षों का परिचय प्राप्त हो सके। अतिरिक्त संख्या परिचय की समग्रता पर कोई प्रभाव नहीं डालती। इसीलिए ऊपर कहा गया था कि परिचय (सभी विसदृश उदाहरणों का) आवश्यक है, न कि संख्या मात्र से भिन्न सभी उदाहरणों का। किसी वस्तु के सभी पक्षों से परिचय के लिए यह आवश्यक है कि उसका प्रत्यक्ष उन सभी परिस्थितियों में किया जाय जिनमें उसके गुणों और कार्यों में भेद प्रकट हो। इसके लिए स्पष्ट ही प्रयोगात्मक पद्धति आवश्यक है।

यह आपत्ति हो सकती है कि किसी वस्तु के स्वभाव के कितने पक्ष हैं और उनसे परिचय के लिए कौन से प्रयोग आवश्यक हैं, इसका पता कैसे चलेगा? लोहे और चुम्बक से परिचय के बावजूद प्रत्येक लोहे के चुम्बक बन सकने की योग्यता से परिचय सैंकड़ों वर्ष तक नहीं हो पाया। किसी वस्तु के परिचय में क्या कमी है और उसे दूर करने के लिए क्या प्रयोग आवश्यक है, इस विषय पर प्रकाश उस वस्तु के अद्यावधि परिचय से प्राप्त उसके स्वरूप की जानकारी से ही मिल सकता है। किन्तु यह जानकारी पूरी है अथवा अधूरी इसका ज्ञान किस प्रकार होगा ? प्राचीन विज्ञान और तत्त्वमीमांसा अपने अभ्यस्त विश्व-परिचय के आधार पर तत्त्व-विभाग और तत्त्व-लक्षण से प्राय: आश्वस्त रहते थे। जल, वायु,अग्नि आदि के पृथक् और स्थिर स्वभावों की कल्पना इसका ज्वलन्त दृष्टान्त है। वर्तमान विज्ञान अद्यावधि ज्ञान को सदा अधूरा मानकर निरन्तर नये प्रयासों से उसे सुधारने और पूरा करने में निरत रहता है। किंतु उसकी यह निरन्तर

प्रगतिशीलता ही उसकी मौलिक ऐतिहासिकता की परिचायक है। जब तक यह आस्था थी कि सभी पदार्थ एक स्वाभाविक रूप से लोकानुभव में अपना स्वरूप व्यक्त करते हैं, उनका अनुभवमूलक ज्ञान एक स्थिर और सार्वभौमिक आधार पर प्रतिष्ठित माना जा सकता था। वायु का समान रूप से सदा और सर्वत्र प्रत्यक्ष होता आया है, इस आधार पर यदि उसे एक स्थिर तत्त्व मान सकते तो इस ज्ञान को इतिहास-निरपेक्ष, अनुभव-सिद्ध ज्ञान मान सकते थे। तब वायु ऐतिहासिक ज्ञान का और तटस्थ तार्किकों के द्वारा मीमांसेय विषय बन जाती। किन्तु एक दिन परिस्थिति-विशेष में सम्पादित प्रयोग से वायु की एक-तत्त्वात्मकता खण्डित हो गई। यद्यपि वह प्रयोग जहाँ-कहीं भी दुहराया जा सकता है, किन्तु इसमें काई सन्देह नहीं कि उसने चिरन्तन लोक-प्रत्यक्ष पर आधारित एक व्यापक बौद्धिक धारणा का खण्डन कर दिया। इस प्रकार का प्रयोग किया जा सकता है अथवा किया जाएगा, इसकी कोई कल्पना पहले सम्भव नहीं थी। अतएव वायु-विषयक यह नयी प्रतीति ऐतिहासिक क्रम में अतर्क्य रूप से उद्भूत कारणों का ही परिणाम मानी जा सकती है। कौन से प्रयोग भविष्य में होंगे और उनसे कौन-सी धारणाएँ उपजेंगी, यह भी सर्वथा अतर्क्य है।[2] इस प्रकार वैज्ञानिक परम्परा में वस्तुओं का विभाजन और लक्षण, उनके स्वरूप का निरूपण निरन्तर एक अतर्कित रीति से परिवर्तनशील होने के कारण ऐतिहासिक ही कहा जा सकता है। परिणामत: वैज्ञानिक अवधारणाओं पर विचार वस्तु-सापेक्ष ढंग से नहीं हो सकता अपितु इतिहाससिद्ध, अनुभव-विशेष के सन्दर्भ में ही करना होता है। वस्तु-स्वरूप के निर्धारण के लिए उसका परिचय पूरा होना चाहिए, पर यह परिचय सदैव एक ऐतिहासिक अपूर्णता से परिष्वक्त रहता है।

यह कहा जा सकता है कि प्रयोगात्मक परिचय आकस्मिक और आगन्तुक नहीं होता बल्कि वैज्ञानिक परम्परा के अपनी अपूर्णता के बोध से प्रेरित होता है। ज्ञान की शृंखला असंबद्ध आगन्तुक प्रत्यक्षों की शृंखला नहीं है बल्कि एक सुनियोजित ढंग से अर्जित,नियमबद्ध तत्त्वों की व्यवस्था है। उसमें विद्यमान ज्ञानसूत्रों की परीक्षा ही विशिष्ट प्रयोगों को जन्म देती है जिनमें आनुमानिक कल्पनाओं का अविसंवादन उनका सत्यापन माना जाता है। इस प्रकार वस्तुओं के वैज्ञानिक स्वरूप-निर्धारण में ऐतिहासिकता महत्त्वहीन है, महत्त्वपूर्ण है उसकी तार्किकता और अथक सत्यान्वेषण।[3]

इन युक्तियों का यदि यह अर्थ हो कि वर्तमान विज्ञान में समस्त अनागत विज्ञान एक तार्किक अनिवार्यता से समाहित है और तार्किक परीक्षा के द्वारा क्रमश:उन्मीलित होता है, तो यह एक अनास्थेय कल्पनामात्र प्रतीत होती है। वस्तु-प्रत्यक्ष का विश्लेषण और उसके दैशिक-कालिक सम्बन्धों का निर्धारण तार्किक प्रक्रियाएँ हैं और उनके

द्वारा प्रत्यक्ष-ज्ञान विकल्पयोजनाओं में व्यवस्थित होता है। किन्तु यह ज्ञान योजनामात्र नहीं होता बल्कि इसमें प्रत्यक्षमूलक स्थिरांकों का सर्वाधिक महत्त्व होता है। अतएव वैज्ञानिक प्रगति की प्रेरणा तार्किक विसंगति से ही नहीं होती बल्कि, अपूर्व प्रत्यक्ष की और नई कल्पना की चुनौती से भी होती है। कारण-संयोग से जन्मे अपूर्व प्रत्यक्ष में कभी भी तार्किक अनिवार्यता नहीं हो सकती। प्रयत्न-विशेष और परिस्थिति-विशेष में उत्पन्न प्रत्यक्ष अपने प्रथम आविर्भावकाल में ऐतिहासिक घटना ही होता है यद्यपि पीछे उसके सजातीय प्रत्यक्ष नियमत: और यथेष्ट रूप से उपलब्ध होने के कारण इस इतिहासिकता से विलग हो जाते हैं।

इस प्रकार वस्तु-स्वरूप का निर्धारण वस्तु के परिचय की मात्रा एवं उसके विश्लेषण के तार्किक गुण पर निर्भर करने के कारण एक गतिशील अधूरेपन के घेरे में रहता है। आधुनिक विज्ञान में इस तथ्य का नि:संकोच स्वीकार मिलता है किन्तु दार्शनिक परम्परा में प्राय: या तो विश्वास की ऐकान्तिकता या संशय की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। प्राचीन और मध्यकालीन दार्शनिक सम्प्रदायों में नाना तत्त्व-व्यवस्थाओं का निरूपण पारमार्थिक और शाश्वत सत्य के रूप में मिलता है। आधुनिक दार्शनिकों ने न केवल इन व्यवस्थाओं पर संशय प्रकट किया है बल्कि क्रमश: दार्शनिक तत्त्वों का वैज्ञानिक तत्त्वों से पार्थक्य प्रतिपादित किया है। इस प्रवृत्ति के पीछे यह धारणा बद्धमूल है कि वस्तुसत् पदार्थों का ज्ञान अनुभव और विशुद्ध तर्क के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है जबकि दर्शन की मनोवैज्ञानिक प्रत्यवेक्षा अथवा विशुद्ध बौद्धिक विश्लेषण की पद्धतियों से मनोमय अथवा प्रज्ञप्तिसत् अर्थों का ही ज्ञान सम्भव है। ह्यूम ने वस्तु-व्यवस्था और तार्किक व्यवस्था को असम्बद्ध बनाया,[4] कांट ने बुद्धिमीमांसा के आधार पर तत्त्वमीमांसा को असम्भव घोषित किया।[5] कौंत ने तत्त्वमीमांसा का देवमीमांसा का रूपान्तर और विज्ञान के पूर्ववर्ती युग का चिन्तन विज्ञापित किया।[6]

तो क्या यह मानना चाहिए कि तत्त्वमीमांसा के पुराने प्रयत्न एक मौलिक भ्रान्ति के शिकार थे क्योंकि वे वास्तविकता की व्याख्या विज्ञानेतर रीति से करना चाहते थे ? यह निर्विवाद है कि पुरानी तत्त्वमीमांसा के सभी अभ्यस्त तत्त्व: (बुद्धि, मन, प्राण, महाभूत:) विज्ञान की तेजाबी दृष्टि में घुल चुके हैं, ऐसी मान्यता इस समय जागरूक है। क्या उसे कौंत के ऊपर उल्लिखित वाक्य का ऐतिहासिक सत्यापन माना जाना चाहिए ?

प्राचीन तत्त्वमीमांसा अपने को एक शाश्वत ज्ञान की उपलब्धि मानती थी। यह ज्ञान श्रोतव्य, मन्तव्य, निदिध्यासितव्य था। शास्त्रीय परम्परा के रूप में व्याख्याओं के द्वारा समाज की बदलती व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना नहीं माना

जाता था बल्कि एक ऐसे चिरन्तन और आदर्श सत्य का निरूपण करना था जिसकी पृष्ठभूमि में समाज का यथावत् नियमन हो सके और जिसके साक्षात्कार से आत्मा मुक्त और चरितार्थ हो सके। गुफा के अन्दर ही बने रहकर छायाओं के अध्ययन के द्वारा बन्दी जीवन में सौकर्य-प्रदान करना विज्ञान का लक्ष्य हो सकता है, तत्त्वमीमांसा का नहीं।[7] तत्त्वमीमांसा 'छायाग्राहिणी' के शिकंजे में फँसकर बुद्धि की भवसागर के पार उड़ान थी। इन्द्रियगोचर, आधिभौतिक विश्व में निगड़ित चेतना के लिए वह आत्माराम सत्य का बुद्धिवाहित संदेश थी। ऐन्द्रिय संवेदन और आत्मानुभूति के बीच बुद्धि ही उभयमुखी दर्पण के समान सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ है। एक ओर उसमें नित्य ज्ञान का आभास होता है, दूसरी ओर ऐन्द्रिय प्रतिभासों एवं उनके संश्लेषित-विश्लेषित विकल्पों का।[8] बुद्धि की प्रवृत्ति दोनों दिशाओं में हो सकती है। पराङ्मुखी होने पर वह इन्द्रिय-विकारों के अथवा उनके नियत कारणों के अनुसंधान में लगती है, प्रत्यङ्मुखी होने पर वह नित्य ज्ञान और नित्य सत्य का अनुसन्धान करती है।[9] इन दोनों दिशाओं की उपलब्धियों को समन्वित करने का कार्य भी उसी का उत्तरदायित्व है पर इस कार्य में सन्तोषजनक सफलता उसे कभी भी प्राप्त नहीं हुई है, क्योंकि नित्य और अनित्य परस्पर बाधक रूप में प्रतीत होते हैं। इस स्थिति में आर्ष-प्रज्ञा आध्यात्मिक तत्त्वों का निरूपण सांकेतिक भाषा में करती थी जो कि प्राचीन देवविद्याओं में उपलब्ध होता है।[10] इनमें तत्त्व-निर्देश सृष्टि-प्रक्रिया के निदर्शन के रूप में मिलता है।[11] इस निरूपण में तत्त्व चैतन्य-संपन्न और अत: देवता रूप में प्रतिपादित होते थे। एक मूल सत् अथवा चेतन शक्ति से नाना रूपों की सृष्टि मानी जाती थी।[12] तर्क-प्रज्ञा के विकास ने लक्षण और प्रमाण के द्वारा तत्त्व-व्यवस्थापन के प्रयत्नों को प्रबल किया। अध्यात्मविद्या के संरक्षण के लिए न्यायविद्या ने जन्म लिया[13] और इसके साथ ही अध्यात्मविद्या ने अपने प्राचीन सांकेतिक रूप को त्याग कर तर्क-कर्कश लक्षणों का आवरण धारण किया। यही 'मध्यकालीन' तत्त्वमीमांसा का विकास था।[14]

प्राचीन वेदान्त और सांख्य में मूल अथवा उपादान के रूप में ही तत्त्व अवधारित है और यह भी विश्वास है कि विश्व के नाना पदार्थ एक ही मूल उपादान के परिणाम हैं। ऐन्द्रिय विश्व का आधारभूत तत्त्व अतीन्द्रिय है, इस विश्वास को आध्यात्मिक अनुभूति ही प्रमाणित कर सकती है।[15] पश्चिम में भी तत्त्वमीमांसा का जो सर्वोच्च शिखर सुकरात और प्लातोन में मिलता है, उसमें भी इसी प्रकार की धारणा देखी जा सकती है। बाह्य और आध्यात्मिक, अनित्य और नित्य सत्ताओं को प्रमेयतया समानकोटिक मानकर अरस्तू और अक्षपाद की मीमांसायें प्रवृत्त हुई हैं। सब सत् को प्रमेय, प्रमेय को प्रमाणैकाशरण, प्रमाण को व्यवहार-सिद्धि का हेतु एवं प्रमा को लौकिक भाषा से अविनाभूत मानने से इन मीमांसाओं की तत्त्व-व्यवस्था में अध्यात्मविद्या एवं

तार्किक विज्ञान का अद्भुत सम्मिश्रण मिलता है। यही "मध्यकालीन" तत्त्वमीमांसा का परिनिष्ठित रूप है। शब्द-प्रमाण छोड़कर प्रत्यक्ष-प्रधान अधिकतम दो ही प्रमाणों को स्वीकार करने वाले विचारकों की आलोचना से इस 'मध्यकालीन' विचार-व्यवस्था का अभिभव प्रारम्भ हुआ जिसकी पाश्चात्य परिणति का ऊपर उल्लेख किया गया है।

प्रारम्भ में कहा गया था कि किसी वस्तु के स्वरूप-निर्धारण के लिए उसका पर्याप्त परिचय आवश्यक है, किन्तु परिचय की पर्याप्तता की पूर्ण अथवा निस्संदेह उपलब्धि सम्भव नहीं है। यदि वस्तु-परिचय को ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष तक सीमित माना जाय तो फिर वस्तु-निर्धारण अधिभौतिक जगत् के एक परोक्ष और सम्भावनात्मक विज्ञान के अतिरिक्त सम्भव नहीं है। किन्तु प्रत्यक्ष को करणोपकरणपूर्वक मानना प्रत्यक्ष के स्वरूप के ही विरुद्ध है। वस्तुत: प्रत्यक्ष आत्मानुभूति को ही मानना चाहिए। तत्त्व को भी कार्यानुमेय उपादान मानने पर वह तत्त्व न रहकर अन्य-सम्बद्धत्व ही रह जाता है। वस्तु-वैलक्षण्य के रूप में अवधारित तत्त्व विकल्पपर्यवसायी रह जाता है, क्योंकि लक्ष्य के बिना लक्षण का और लक्षण के बिना लक्ष्य का ज्ञान नहीं हो सकने से लक्षण संकेत मात्र और लक्ष्य बुद्धि-विकल्प मात्र सिद्ध होते हैं। अतएव तत्त्व को अपरोक्षानुभूति में प्रकाशित सत् के अतिरिक्त और कुछ परमार्थत: नहीं माना जा सकता। इस सत् के सम्प्रेषण के लिए शुद्ध-बुद्धि तत् को नाना सांकेतिक तत्त्वों का रूप देती है। यही वास्तविक तत्त्वमीमांसा का जन्म है, और व्यावहारिक बुद्धि का बहिर्मुखी आग्रह उसका निधन है। आत्मविद्या से आविर्भूत बुद्ध्यात्मक तत्त्वमीमांसा पदार्थ-विद्या में तिरोहित हो जाती है।

अनुत्तर परिचर्चा

दयाकृष्ण :- तत्त्वमीमांसा के जन्म और निधन के बारे में जो पांडेजी ने लिखा है, उस पर न उन्हें और न किसी और को कोई आश्चर्य होना चाहिए। अधिकतर लोग तो ऐसा मानते ही हैं कि जिसका जन्म होता है उसका निधन अनिवार्य है। यह दूसरी बात है कि भारत में कुछ दार्शनिक परंपराएँ यह स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं कि जिसका नाश होता है उसका जन्म भी आवश्यक है। अविद्या, वासना, अज्ञान, माया आदि को अनादि मानने पर भी अनन्त नहीं माना गया। तार्किक दृष्टि से यह कहाँ तक उचित है, इसकी चर्चा यहाँ प्रासंगिक नहीं है।

परन्तु जिसका निधन होता है, उसका क्या फिर जन्म नहीं होता ? भारतीय परंपरा में यह दूसरा विचार भी शायद इतने ही मूलरूप में मान्य है जितना कि पहला। 'संसार' का अर्थ ही शायद यह है - जन्म, मृत्यु और फिर जन्म, और इसकी चिरंतन शृंखला। "रूपं, रूपं प्रतिरूपो बभूव" कहने वाले दार्शनिक का भी शायद यही आशय होगा क्योंकि अनेक रूपों में विभक्तता केवल देश में ही नहीं होती। देश से अधिक, वह

तो काल में ही होती है। पांडेजी ने भी लिखा है कि प्राचीन वेदान्त और सांख्य में मूल अथवा उपादान के रूप में ही तत्त्व अवधारित है और यह भी विश्वास है कि विश्वास के नाना पदार्थ एक ही उपादान के परिणाम हैं।" "परिणाम" और उपादान शब्दों के प्रयोग से, यदि उनको शुद्ध दार्शनिक अर्थ में लिया जाये तो, अनेक समस्याएँ खड़ी होती हैं। उपादान शब्द तत्त्वबोधक है और 'परिणाम' उस तत्व की प्रक्रिया को दर्शाता है। भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में इस बात को लेकर अनेक तत्त्वमीमांससीय भेद देखे जा सकते हैं। परन्तु यदि हम उनकी ओर ध्यान न भी दें तब भी इतना जो सत्य ही है कि ज्ञान है ही एक के द्वारा अनेक को समझना। आधुनिक विज्ञान के बारे में भी यह उतना ही सच है जितना कि प्राचीन दर्शन के बारे में। यह दूसरी बात है कि विज्ञान इसको ज्ञान के लक्ष्य के रूप में ही स्वीकार करता है, न कि इस रूप में कि यह वास्तव में सिद्ध हो चुका है। यही नहीं, वह यह भी जानने की कोशिश करता है कि वह क्या सिद्धान्त है जिसके अनुसार एक अनेक रूप लेता है। और उस सिद्धान्त की परीक्षा, उसके अनुसार, एक से अनेक उत्पन्न कर देने की सफल क्षमता में ही है; और तब भी पूर्णतया नहीं, क्योंकि यह सिद्ध करना तर्कत: असम्भव है कि वह प्रक्रिया किसी अन्य सिद्धांत से निर्गमित नहीं हो सकती थी। पांडेजी का इस संदर्भ में यह कहना कि "ऐन्द्रिय विश्व का आधारभूत तत्त्व अतीन्द्रिय है, इस विश्वास को आध्यात्मिक अनुभूति ही प्रमाणित कर सकती है।" इस बात को भुलाता है कि बुद्धि के विषय भी अतीन्द्रिय होते हैं, और प्रमाणीकरण की बात तो केवल बुद्धि के ही क्षेत्र में उदय होती है। अनुभूति, चाहे वह लौकिक हो या आध्यात्मिक, केवल अपने ही लिये प्रमाण हो सकती है, किसी अन्य प्रमेय के लिए नहीं। दूसरे, आध्यात्मिक अनुभूति सदैव अतीन्द्रिय ही होती है, यह कम से कम उन भक्तों को तो स्वीकार नहीं होगा जो भगवान का साक्षात्कार इन आँखों से दर्शन करके करना चाहते हैं।

वास्तव में पांडे जी के लेख की कई दिशायें हैं जिनका एक-दूसरे से संबंध बहुत ही आगन्तुक ढंग का प्रतीत होता है। लेख के प्रथम भाग में यह कहने की चेष्टा है कि आधुनिक विज्ञान की प्रयोगात्मक विधि ने एक प्रकार से वस्तु के स्वरूप के निर्धारण को ही असंभव बना दिया है। और इस असंभावना का कारण यह दिया गया है कि "वस्तु-स्वरूप का निर्धारण वस्तु के परिचय की मात्रा एवं उसके विश्लेषण के तार्किक गुण पर निर्भर करने के कारण एक गतिशील अधूरेपन के घेरे में रहता है।" पर यदि "किसी भी वस्तु के स्वरूप का निर्धारण उसके विस्तृत एवं घनिष्ठ परिचय के बिना ठीक-ठीक नहीं किया जा सकता," और यदि "किसी वस्तु के सभी पक्षों से परिचय के लिये यह आवश्यक है कि उसका प्रत्यक्ष उन सभी परिस्थितियों में किया जाय जिनमें उसके गुणों और कार्यों का भेद प्रकट हो" तो और हो भी क्या सकता है ? और पांडे जी

को इससे शिकायत क्या है ? उनका यह विश्वास कि "प्राचीन विज्ञान और तत्त्वमीमांसा अपने अभ्यस्त विश्व-परिचय के आधार पर तत्त्व-विभाग और तत्त्व-लक्षण से प्राय: आश्वस्त रहते थे" उस विज्ञान और तत्त्वमीमांसा की ऐतिहासिकता को भुलाकर ही हो सकता है। पृथ्वी का लक्षण विशिष्ट गन्ध को मानना या समस्त संसार की वस्तुओं को सत्त्व, रजस, तमसात्मक मानना सद्य: प्रत्यक्ष से उतना ही दूर है जितना कि आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्त की इन वस्तुओं की परिभाषा। इसी कारण शायद जयंत भट्ट को न्यायसूत्र में दिये हुए "दृष्टान्त" के लक्षण का परिष्कार करने की आवश्यकता महसूस हुई। न्यायसूत्र 1-1-25 के अनुसार दृष्टान्त का लक्षण यह कह कर दिया गया है कि 'लौकिक परीक्षकाणां यस्मिन् बुद्धिसाम्यं स: दृष्टान्त:,' जिसका सीधा-सादा अर्थ यही होता है कि जिसको साधारण आदमी तथा परीक्षक, यानि दार्शनिक या वैज्ञानिक, दोनों स्वीकार करें वह दृष्टान्त होता है। परन्तु ऐसा मानने से अनेक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, क्योंकि किसको दृष्टान्त के रूप में स्वीकार किया जाये यह ज्ञानेन्द्रियों के निर्दोष होने पर निर्भर नहीं करता बल्कि उस बौद्धिक तत्त्व-व्यवस्था से संबंध रखता है जिसके संदर्भ में वह दृष्टांत की पदवी पाता है। इसीलिए उद्योतकर ने अपनी वार्त्तिक में "लौकिक" पद पर जोर न देकर "बुद्धिसाम्य" पर जोर दिया, और जयन्त भट्ट ने तो "लौकिक-परीक्षक" का भेद ही मिटा डाला और दोनों को केवल वादी-प्रतिवादी के रूप में लिया। उद्योतकर ने यह न सोचा कि बुद्धि-साम्य की स्थापना कैसे होगी और जयन्त भट्ट ने यह बताने की कोई आवश्यकता नहीं समझी कि यदि सूत्रकार का मतलब वादी-प्रतिवादी से था" तो उसने "लौकिक-परीक्षक" का भेद ही क्यों किया।

जो कुछ भी हो, कहने का तात्पर्य यही है कि पांडे जी ने प्राचीन विज्ञान और तत्त्वमीमांसा को जो प्रत्यक्षाश्रित बताया है उतना ही सत्य या असत्य है जितना कि वह आधुनिक विज्ञान या तत्त्वमीमांसा के बारे में होगा। विज्ञान और तत्त्वमीमांसा बुद्धि के क्षेत्र हैं, और इनमें प्रत्यक्ष का संदर्भ हमेशा एकसा ही रहता है। यह सच है कि आज का विज्ञान सतत् परीक्षण-शील होने के नाते वस्तु के अनेक नये पक्षों को उजागर करता रहता है परन्तु तार्किक दृष्टि से इससे कोई मौलिक भेद उत्पन्न नहीं होता। दूसरी ओर आधुनिक युग में ऐसे दार्शनिकों की कमी नहीं हैं जिनके अनुसार वैज्ञानिक परीक्षण-विश्लेषण से प्रत्यक्ष -मूलक वस्तु-सत् पर कोई असर नहीं पड़ता। मूर तथा विट्गेन्स्टाइन इसके प्रसिद्ध उदाहरण हैं।

दूसरी ओर यह कथन कि शुद्ध तत्त्व का ज्ञान केवल आत्मानुभूति की अपरोक्षता में ही मिलता है, जिसमें वे सब समस्याएँ नहीं है जो वस्तु-सत् के प्रत्यक्ष की एक-पक्षता से उत्पन्न होती हैं, आत्मानुभूति के इतिहास की विविधता को भुलाकर ही किया जा सकता है। श्री अरविन्द ने हाल ही में सब पूर्व आत्मानुभूतियों की एकदेशीयता

या एक-स्तरात्मकता का निरूपण किया है। और उनसे बहुत पहले, भगवान बुद्ध आत्मा की तात्त्विकता को ही अस्वीकार कर चुके हैं, या कम से कम उसे स्वीकार करने से इन्कार कर चुके हैं। विभिन्न संप्रदायों के आचार्यों तथा उसके अनुयायियों के परस्पर व्यवहार से ऐसा प्रतीत नहीं होता कि उन्हें किसी तत्त्व की समान अनुभूति थी। और पांडेजी का यह समझना कि करणोपकरणता आत्मानुभूति में नहीं होती, उसके साधना-पक्ष को अनदेखा कर देता है। साधना से स्वतंत्र आत्मानुभूति तो सब को होती है पर पांडेजी का आशय उससे नहीं है। वे तो साधना-सिद्ध आत्मानुभूति की बात कर रहे प्रतीत होते हैं। पर वह तो साधना-भेद से भिन्न-भिन्न होती है। वाम-मार्गी तंत्र-साधना करने वाले की आत्मानुभूति वही होती है जो जैन अर्हत की, ऐसा तो शायद पांडे जी भी नहीं मानेंगे। बुद्ध और महावीर दोनों एक ही समय में हुए माने जाते हैं, परन्तु ऐतिहासिक विवरण से ऐसा पता नहीं लगता कि दोनों एक-दूसरे की अपरोक्षानुभूति को सत्य मानते थे!

पांडे जी को यह सब ज्ञात नहीं हो ऐसा नहीं है। फिर, उन जैसा विद्वान इनकी अनदेखी क्यों करता है ? इसके मूल में जहाँ एक ओर आधुनिक विज्ञान की निरंतर गतिशीलता के कारण कोई प्रामाणिक तथा स्थायी आधार प्राप्त न होता है, वहाँ दूसरी ओर प्राचीन भारतीय आध्यात्मिकता के प्रति वह आग्रह है जो उसे सदा एक-रस सदा-संपूर्ण तथा भ्रांति-संभावना-विहीन मानता है, और इस प्रकार किसी एक जगह पाँव टिकाकर बौद्धिक संतोष प्राप्त करने आशा रखता है। इसमें, पांडे जी अकेले ही नहीं है। देश के अनेक समृद्ध चिंतनशील व्यक्ति, जिनकी बौद्धिक जड़ें पश्चिम की उर्वर भूमि में गहरी फैली हुई है परन्तु जिनकी भावनात्मक आस्था इस देश की परंपरा से आत्मिकरूप में उससे भी अधिक गहरी जुड़ी हैं, इस व्याधि से ग्रस्त हैं। पर पांडे जी जैसे इतिहासज्ञ को ज्ञात होना चाहिए कि इस प्रकार चिंतन न वस्तु-सत् जानने में सहायता करता है न आत्म-सत् को। इसकी परिणति केवल एक मिथ्या आत्माभिमान में होती है जो एक ओर विज्ञान की ज्ञान-साधना को निरादर की दृष्टि से देखता है वहाँ दूसरी ओर अपने को या अपने देश को उस आध्यात्मिक ज्ञान का प्रतिनिधि मानता है जो उसके अनुसार उसकी संस्कृति ने अपने प्रारम्भिक काल में ही प्राप्त कर लिया था। दोनों प्रकार की परिणति किसी के लिए हितकारी नहीं है -चाहे वह व्यक्ति हो, समाज हो, या देशहो।

राजेन्द्र स्वरूप भटनागर :- शाब्दिक दृष्टि से 'जन्म-निधन', अथवा 'आविर्भाव-तिरोभाव' की अवधारणा अपने में एक ऐतिहासिक सन्दर्भ रखती है। व्यंग्यार्थ में उसका एक तात्त्विक संदर्भ भी हो सकता है। पांडेजी का लेख 'तत्त्वमीमांसा का जन्म और निधन' इन दोनों पक्षों से लिखा गया है। ज्ञान की परंपरा के परिप्रेक्ष्य में कोई भी विवेचन बहुधा दोनों पक्षों को आकर्षित करता है। दार्शनिक दृष्टि से इस प्रकार का

विवेचन तभी सार्थक समझा जा सकता है जब परंपरा का निरूपण अथवा अन्वीक्षण तात्त्विक प्रश्न के उत्तर पर कुछ प्रकाश डालता हो।

पांडे जी ने तत्त्वमीमांसा के प्रश्न पर विचार करते हुए पश्चिम तथा भारतीय दोनों संदर्भों को सामने रखा है। यद्यपि वे इनका भेद भी स्पष्ट करते चलते हैं, तथापि उनके समूचे विचार-क्रम में एक तारतम्य एवं विचार-योजना सन्निहित प्रतीत होती है, जिसमें ज्ञान से संबंधी भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं तथा उनके संदर्भ में बुद्धि, अनुभूति, ऐन्द्रिय तथा अनैन्द्रिय प्रत्यक्ष की सापेक्ष भूमिका पर संक्षिप्त परन्तु सम्यक् विचार हुआ है।

यदि ऐतिहासिक संदर्भ में देखें तो तत्त्वमीमांसा के निधन की बात पश्चिम के एक सीमित दार्शनिक समुदाय के बीच इस शताब्दी के पहले कुछ दशकों में निर्णायक रूप में सामने आई। विट्गेन्स्टाइन की ट्रेक्टेट्स लॉजिको-फिलॉसोफिकस में, जो 1918 में लिखी गई, तथा अंग्रेजी अनुवाद सहित जो 1922 में प्रकाशित हुई, उसमें एक सुनिश्चित ढंग से तत्त्वमीमांसा की निरर्थकता को सिद्ध करने का प्रयास हुआ। यद्यपि मूल तर्क ह्यूम के विचारों में पहले ही लक्षित किया जा सकता है परन्तु विट्गेन्स्टाइन की ट्रेक्ट्स के पूर्व तत्त्वमीमांसा की निरर्थकता एक सुनिश्चित सर्वमान्य मत रहा हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। किन्तु विट्गेन्स्टाइन के बावजूद दार्शनिकों का एक बड़ा समुदाय उन समस्याओं में व्यस्त रहा है जो मूलत: तत्त्वमीमांसीय हैं। फिर भी यह कहना पड़ेगा कि तत्त्वमीमांसा का निराकरण करने वाले विचारक सच्चाई से दार्शनिक समस्याओं के समाधान के लिए उत्सुक थे। इस प्रयास में महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ जो अब दार्शनिक चिंतन एवं भाषा का एक सहज अंग बन गया है, यद्यपि तत्त्वमीमांसा की निरर्थकता की बात अब उतने निश्चयात्मक तथा विश्वासपूर्ण ढंग से सुनने या पढ़ने में नहीं आती।

प्रश्न यह है कि वर्तमान परिपेक्ष्य में ऐसी क्या समस्या है जो हमें तत्त्वमीमांसा के विषय में पुन: सोचने के लिए बाध्य करती है। लगता है पांडे जी के सम्मुख ऐसी कोई समस्या अथवा प्रश्न नहीं है तथा लेख का प्रमुख उद्देश्य तत्त्वमीमांसा के स्वरूप के विषय में उनके अपने मत की अभिव्यक्ति है। एतदर्थ उसका स्वागत है। अपने तात्त्विक विचार को वे अपने लेख के अन्तिम पैराग्राफ में व्यक्त करते हैं। उनका मत है कि "जब उस तत्त्व की अनुभूति के सम्प्रेषण की आवश्यकता होती है जो "अपरोक्षानुभूति में प्रकाशित सत् है" तब बुद्धि द्वारा इस सत् का "सांकेतिक तत्त्वों" के रूप में रूपायन तंत्त्वमीमांसा का आविर्भाव है। इसके विरूद्ध जब बुद्धि बहिर्मुखी होती हैं, पदार्थ-विद्या में व्यस्त होती हैं, उस अवस्था में तत्त्वमीमांसा का तिरोभाव हो जाता है। पांडेजी का यह मत अनेक प्रश्नों को जन्म देता है जिनमें से कुछ का उत्तर हमें उनके इस लेख से नहीं मिलता।

अन्तिम पैराग्राफ के आरम्भ में पांडे जी कहते हैं, "यदि वस्तु-परिचय को ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष तक सीमित माना जाय तो फिर वस्तु-निर्धारण आधिभौतिक जगत् के परोक्ष और सम्भावनात्मक विज्ञान के अतिरिक्त संभव नहीं है।" इस कथन से क्या यह ध्वनि प्राप्त नहीं होती कि यदि "वस्तु-परिचय" को इस प्रकार ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष तक सीमित नहीं माना जाय तो "वस्तु निर्धारण" के संबंध में हम विभिन्न प्रकार के निष्कर्ष की आशा कर सकते हैं ? यदि इस प्रश्न का उत्तर सकारात्मक हो तब क्या पांडेजी का आशय यह है कि विज्ञान तथा तत्त्वमीमांसा का विषय तो एक ही है, परन्तु बुद्धि (जो उनके मत से उभयमुखी है) की दो दिशाएँ उस विषय को दो भिन्न रूपों में उद्घाटित करती है ? आगे पांडे जी कहते हैं कि "तत्त्व को ..... कार्यानुमेय उपादान मानने पर वह तत्त्व न रहकर अन्यसम्बद्धत्त्व ही रह जाता है।" इस अवस्था में लक्ष्य-लक्षण संदर्भ उभर आता है, तथा परिणामत: बुद्धि-विकल्पों के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता। अब यदि तत्त्व वास्तव में तत्त्व नहीं रह जाता तो क्या यहाँ यह अभिप्रेत है कि जो वस्तु-वैलक्षण्य के रूप में अवधारित है वह वस्तुत: तत्त्व है ही नहीं, अथवा यह कि तत्त्व है परन्तु वह अपने वास्तविक रूप में लक्ष्य-लक्षण व्यापार से परे है ? यदि पहला अभिप्राय लें तो विज्ञान एवं तत्त्वमीमांसा के विषयों में भेद मानना होगा, जबकि दूसरे अभिप्राय के आलोक में विषयों में अन्तर न मानकर उनके बौद्धिक एवं अपरोक्ष ग्रहण में भेद मानना होगा।

इस बात को आगे बढ़ाने के पूर्व यह ध्यान रखना आवश्यक है कि पांडे जी तत्त्वमीमांसीय विचार-व्यवस्था तथा तत्त्व की अपरोक्षानुभति में अंतर करते हैं। तत्त्वमीमांसीय विचार-व्यवस्था तत्त्व की अपरोक्षानुभूति के सम्प्रेषण की अपेक्षा का परिणाम है। ऐतिहासिक सन्दर्भ के निरूपण में पांडे जी ने अपरोक्षानुभूति सम्प्रेषणीय अपेक्षा की अभिव्यक्ति को दो प्रकार का बताया है : आर्ष-प्रज्ञा के द्वारा तथा तर्क-प्रज्ञा के द्वारा। इसके साथ यदि हम यह और जोड़ लें कि इन दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं की अनेक संभवानाएँ हैं और इतिहास में उनका साक्ष्य भी प्राप्त होता है, तो हम पांडे जी की विचार-व्यवस्था को ही विस्तार दे रहे हैं। परन्तु इस अवस्था में विभिन्न तत्त्वमीमांसीय व्यवस्थाओं अथवा विचार-तन्त्रों की तुलना एवं मूल्यांकन का प्रश्न उपस्थित होता है। पुन:, इस बात का क्या आधार होगा कि अमुक विचार-तंत्र अनुभूति को सही रूप में अथवा निकटतम सही रूप में व्यक्त करता है ? पांडे जी की यह टिप्पणी कि यह बौद्धिक व्यापार तो तत्त्व को अन्तत: विकल्पपर्यवसायी बना देता है, किसी अर्थ में यह स्वीकार करना है कि कोई बौद्धिक योजना तत्त्व की अपरोक्षानुभूति को इस रूप में अभिव्यक्त नहीं कर सकती कि वही एकमात्र सही एवं पूर्णतया पर्याप्त हो। फलस्वरूप वैज्ञानिक अपूर्णता एवं अपर्याप्तता तथा तत्त्वमीमांसीय तंत्रों की अपूर्णता

एवं अपर्याप्तता एक-दूसरे से स्पर्धा नहीं कर सकती। कहा जा सकता है, जैसा पांडे जी कहते हैं, कि दोनों की दिशाएँ परस्पर विपरीत हैं – एक का होना दूसरे का न होना है।

दूसरी ओर यदि यह मानना ठीक है कि ज्ञान किसी भी प्रकार का हो – चाहे उसका संबंध ऐन्द्रिय विषयों से हो अथवा किन्हीं तार्किक संभावनाओं से, वह बौद्धिक विकल्प से रहित नहीं हो सकता। तब तत्त्वमीमांसा एवं पदार्थ-विद्या का भेद अन्तर्विरोध का नहीं अपितु स्तर का मानना होगा।

कुछ पंक्तियों के पूर्व यह प्रश्न उठाया गया था कि विज्ञान एवं तत्त्वमीमांसा का विषय एक ही है। लेख के अन्तिम वाक्य में 'आत्मविद्या' तथा 'पदार्थविद्या' का विरोधी रूप में उल्लेख 'एक-विषय' के विकल्प के लिए स्थान नहीं छोड़ता। उस दशा में यह स्थापना कि तत्त्वमीमांसा आत्म तत्त्व से ही उद्‌भूत होती है, आत्मेतर तत्त्व से उसका आविर्भाव नहीं हो सकता, एक औचित्य तथा आधार की माँग करती है, या फिर पांडे जी की विचार-योजना में आत्मतत्त्व के अतिरिक्त कोई अन्य तत्त्व ही न हो, उस दशा में इस अद्वैत की प्रतिष्ठा की अपेक्षा रहती है।

तत्त्व की अपरोक्षानुभूति अथवा प्रत्यक्ष की आत्मानुभूति, जो करणयुक्त है तथा इसलिए साक्षात् है, साथ ही जो विकल्पमुक्त है, विज्ञप्तिमात्रता के बहुत निकट प्रतीत होती है। कदाचित् यह पांडे जी को मान्य न हो। उस अवस्था में उनकी अवधारणा तथा बौद्ध अवधारणा में क्या अन्तर होगा – ऐसी जिज्ञासा होती है।

गोविन्दचन्द्र पांडे (प्रत्युत्तर) :– मुझे खेद है कि डॉ. दयाकृष्ण मेरे लेख का पूर्वापर-सम्बन्ध नहीं देख पाये हैं। उन्होंने लेख की विभिन्न दिशाओं के इतिहास-दार्शनिक अन्तस्सूत्र को अनदेखा कर दिया है।

डॉ. दयाकृष्ण ठीक ही एक ऐसे "मिथ्या आत्माभिमान" को हेय मानते हैं "जो एक ओर विज्ञान की ज्ञान-साधना को निरादर की दृष्टि से देखता है वहाँ दूसरी ओर अपने को या अपने देश को उस आध्यात्मिक ज्ञान का प्रतिनिधि मानता है जो उसके अनुसार उसकी संस्कृति ने अपने प्रारम्भिक काल में ही प्राप्तकर लिया था।" मैं भी दया जी से सहमत हूँ कि इस प्रकार का आत्माभिमान अवश्य ही मिथ्या मानना चाहिए। यह उतना ही मिथ्या है जितना यह अभिमान होगा कि विज्ञान ही एकमात्र ज्ञान है और आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति ही एकमात्र उपादेय संस्कृति।

किन्तु मेरे लेख में न विज्ञान का "निरादर" है, न यह दावा कि आध्यात्मिक ज्ञान प्राचीन भारत में ही मिलता है। मेरे लेख में विज्ञान की उपयोगिता और अनिवार्यता के साथ उसकी सीमाओं का उल्लेख है और उस निर्विकल्प आध्यात्मिक ज्ञान एवं उसकी तत्त्वमीमांसात्मक बौद्धिक व्याख्याओं से भिन्न माना गया है। इसमें अस्वीकृत केवल वह विज्ञाननैकान्तवादी दार्शनिक दृष्टि है जो अध्यात्मविद्या के स्थान पर विज्ञान को अभिषिक्त करना चाहती है।

पुनश्च, मेरे लेख में तत्त्वमीमांसा का विवेचन भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में न होकर भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों संस्कृतियों के संदर्भ में है और यह सन्दर्भ केवल ऐतिहासिक ही नहीं है। उसका तात्त्विक संदर्भ लेख की अन्तिम कुछ पंक्तियों में स्पष्ट हो जाता है।

वैसे ऐतिहासिक तथ्य की दृष्टि से यह निस्संदेह है कि भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक क्षेत्र में उपलब्धि अद्वितीय रही है जैसाकि वैज्ञानिक क्षेत्र में आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता की। यह भी सुविदित है कि मनुष्य का प्राचीन इतिहास आधुनिक की तुलना में अत्यन्त सुदीर्घ है और आध्यात्मिक खोज चिरकाल से ही मनुष्य के लिए सहज रही है। ऐसी अवस्था में यह नितान्त संभाव्य है कि प्राचीन काल में आध्यात्मिक उत्कर्ष आज की तुलना में अधिक रहा हो। नवीन वैज्ञानिक इतिहास को समस्त इतिहास का प्रतिमान मानकर जो सांस्कृतिक विकास की धारणा उद्‌भावित हुई है वह मुझे संदिग्ध लगती है।

दया जी को इस वाक्य पर आपत्ति है कि "ऐन्द्रिय विश्व का आधारभूत तत्त्व अतीन्द्रिय है, इस विश्वास को आध्यात्मिक अनुभूति ही प्रमाणित कर सकती है।" यदि इस अतीन्द्रिय आधार को प्रमाणित करने का कोई अन्य साधन भी है तो वह मुझे सहर्ष स्वीकार होगा। दया जी कहते हैं (1) "बुद्धि के विषय भी अतीन्द्रिय होते हैं।" यदि इसका प्लातोनी अथवा गीता-अनुसारी आशय है तो मुझे कोई विरोध नहीं है, पर इस प्रकार की बुद्धि ऐन्द्रिय प्रतिभासों का विकल्पन न होकर प्रतिभात्मक अथवा साक्षात्कारात्मक होगी एवं आध्यात्मिक अनुभूति के अन्तर्गत ही होगी। यदि बुद्धि के अतीन्द्रिय विषयों से तात्पर्य विशुद्ध तार्किक प्रत्ययों से हो तो यह स्मरणीय है कि अतीन्द्रिय सत् के अनुसंधान में उनकी स्वतंत्रत: प्रवृत्ति अपार्थक है। पर फिर दया जी कहते हैं (2)"प्रमाणीकरण की बात तो केवल 'बुद्धि' के ही क्षेत्र में उदय होती है। यदि इसका अर्थ यह है कि तर्क या अनुमान ही एकमात्र प्रमाण है तो यह अनुभव विरूद्ध है क्योंकि अन्य प्रमाण सुविदित हैं। यह भी स्पष्ट नहीं है कि शब्द का अर्थ यहाँ विकल्प एवं अनुमान की शक्ति है अथवा ज्ञानमात्र की शक्ति है। यदि आशय यह हो कि प्रामाण्य-विचार बौद्धिक व्यापार है, तो यह निर्विवाद है। अस्तु, इसके बाद दया जी का कहना है कि (3) 'अनुभूति, चाहे वह लौकिक हो या आध्यात्मिक, केवल अपने लिए ही प्रमाण हो सकती है, किसी अन्य प्रमेय के लिये नहीं।" यह कथन अत्यंत विचित्र है। यदि अनुभूति अपने लिये ही प्रमाण है, अपने विषय के लिये नहीं, तो प्रत्यक्ष को प्रमाण-कोटि से ही हटाना होगा और उस स्थिति में कोई भी वस्तु-सत् प्रमेय सिद्ध नहीं हो सकेगा। अन्त में दया जी 'आध्यात्मिक अनुभूति कदाचित् ऐन्द्रिय भी होती हो' इस संभावना को प्रस्तुत करते हैं। पर जो ऐन्द्रिय विषयों में व्याप्त परमार्थ सत् देख पाते हैं उनके लिए क्या ऐन्द्रिय और अतीन्द्रिय का भेद ही समाप्त नहीं हो जाता ?

डॉ. दयाकृष्ण के अनुसार "लेख के प्रथम भाग में यह कहने की चेष्टा है कि आधुनिक विज्ञान की प्रयोगविधि ने एक प्रकार से वस्तु के स्वरूप के निर्धारण को ही असम्भव बना दिया है।" मुझे खेद है कि उन्होंने मेरे लेख को ठीक नहीं समझा। उसके पूर्वार्ध में प्रतिपाद्य है अवधारणात्मक ज्ञान की द्वन्द्वात्मकता, अनैकान्तिकता अथवा अप्रष्ठितत्त्व, न कि विज्ञान की प्रयोगात्मक पद्धति की कोई निजी विशेषता। बल्कि मैंने प्रयोगात्मक पद्धति को स्वभावाग्रही सांवृत्तज्ञान की अनिवार्य नियति माना है। व्यावहारिक ज्ञान की सीमाओं से मुझे कोई शिकायत नहीं है। पता नहीं दयाकृष्ण जी को इस सम्बन्ध में भ्रम कैसे हुआ ?

वे आगे कहते हैं कि मेरा "यह विश्वास कि प्राचीन विज्ञान और तत्त्वमीमांसा अपने अभ्यस्त विश्व-परिचय के आधार पर तत्त्व-विभाग और तत्त्व-लक्षण से प्राय: आश्वस्त रहते थे, उस विज्ञान और तत्त्वमीमांसा की ऐतिहासिकता को भूलाकर ही हो सकता है।" यहाँ पर भी उन्होंने मेरे वाक्य को उसके संदर्भ में नहीं समझा है। मेरा आशय आधुनिक विज्ञान की तुलना में प्राचीन विज्ञान की अप्रयोगात्मकता को संकेतित करना था न कि उसकी इतिहास-निरपेक्षता सिद्ध करना। यह बात डॉ. दयाकृष्ण द्वारा उद्धृत वाक्य के बाद आने वाले मेरे वाक्य से स्पष्ट होगी—"वर्तमान विज्ञान अद्यावधि ज्ञान को सदा अधूरा मानकर निरन्तर नये प्रयोगों से उसे सुधारने और पूरा करने में निरत रहता है।" इसके विपरीत प्राचीन "आस्था थी कि सभी पदार्थ एक स्वाभाविक रूप से लोकानुभव में अपना स्वरूप व्यक्त करते हैं।" इस आस्था का उल्लेख मैंने ऐतिहासिक तथ्य के रूप में किया है, सर्वर्थनीय तत्त्व के रूप में नहीं।

दया जी कहते हैं "जो कुछ भी हो, कहने का तात्पर्य यही है कि पांडे जी ने प्राचीन विज्ञान और तत्त्वमीमांसा को प्रत्यक्षाश्रित बताया है। यह उतना ही सत्य या असत्य है जितना कि वह आधुनिक विज्ञान या तत्त्वमीमांसा के बारे में होगा।" यह तो ठीक ही है। मैंने प्राचीन और आधुनिक विज्ञान में कोई मौलिक भेद नहीं किया है। मेरा उद्देश्य तत्त्वमीमांसा की दो दिशाओं में भेद करना था जिनमें एक दिशा (प्रत्यङ्मुखी) उसकी उन्नायक और दूसरी (पराङ्मुखी) उसके लिए आत्मघाती है। इसमें भी "प्राचीन-नवीन" का भेद तात्त्विक दृष्टि से निरर्थक है। प्राचीन-नवीन का भेद ऐतिहासिक है और इस रूप में दिशाभेद के कारण सार्थक है।

दया जी आगे कहते हैं—"विज्ञान और तत्त्वमीमांसा बुद्धि के क्षेत्र हैं और उनमें प्रत्यक्ष का सन्दर्भ हमेशा एक सा ही रहता है।" मैं भी उन्हें बुद्धि के ही क्षेत्र में रखता हूँ पर विज्ञान और तत्त्वमीमांसा को एक कोटि में नहीं रखता। विज्ञान की प्रगति में अपूर्व प्रत्यक्ष की चुनौती एक महत्त्वपूर्ण घटक है। अनेक तत्त्वमीमांसाओं के लिए विज्ञान द्वारा अवधारित विश्व एक पूर्वमान्यता है। यह कहा जा सकता है कि विशुद्ध ऐन्द्रिय

व्यापार और वस्तु-स्वरूप को एक-सा रहना चाहिए और इसलिए प्रत्यक्ष के संदर्भ को हमेशा वैसा ही, पर वैचारिक इतिहास में सोपकरणक ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय एकसा निर्धारित नहीं किया जाता रहा है। "तार्किक दृष्टि से इससे मौलिक भेद उत्पन्न नहीं होता" या होता है, तो यह तार्किक की दृष्टि और मौलिकता की व्याख्या पर निर्भर करता है।

डॉ. दयाकृष्ण का कहना है कि आत्मानुभूति विविध और साधन-भेद से भिन्न-भिन्न होती है, अत: उसमें वे ही कठिनाईयाँ होंगी जो लौकिक प्रत्यक्ष की व्याख्या में। एक सीमा तक यह सही है और मेरा एक प्रकार के आम्नाय के अनुसार यह विश्वास है कि इस विविधता का कारण वासना-भेद और स्तरीय संदर्भ के भेद पर आश्रित व्याख्या भेद है। आत्मानुभूति स्वरूपतया अनन्त और अखंड होने से मन और वाक् के परे मानी गई है। उसे लौकिक प्रत्यक्ष एवं विकल्पात्मक ज्ञान के समान 'एक' अथवा 'अनेक' नहीं कहा जा सकता। औपाधिक रूप से ही वह मनोगोचर कही जा सकती है और इसी रूप में वह तत्त्वमीमांसा को विविध वैयक्तिक, साम्प्रदायिक और ऐतिहासिक परिधान देती है। यह भी स्मरणीय है कि आध्यात्मिक साधना वैज्ञानिक करणोपकरणात्मकता से नितान्त भिन्न है। फलत: जहाँ वैज्ञानिक ज्ञान विकल्पात्मक और परोक्ष रहता है, आध्यात्मिक ज्ञान निर्विकल्पक और अपरोक्ष। पर यह निर्विकल्पकता ऐन्द्रिय निर्विकल्पकता के समान नहीं है।

वस्तुत: डॉ. दयाकृष्ण आध्यात्मिक अनुभूति को लौकिक अनुभूति के समानान्तर मानते हैं। वे आत्मानुभूति में औपाधिक स्तर-भेद के स्थान पर समानस्तरीय आयाम-भेद ही मानते हैं। मुझे कहना है कि यह दृष्टि परम्परागत आध्यात्मिक विवरणों का आग्रहपूर्वक उपेक्षा करती है।

दया जी ने बुद्धिवादी एवं आधुनिकतावादी दृष्टिकोण से एक सामान्य प्रचलित अध्यात्मवाद और परम्परावादिता का खंडन किया है, किन्तु इस प्रक्रिया में उन्होंने दोनों पक्षों का इतना सरलीकरण कर दिया है कि वे न तात्त्विक रहे हैं न ऐतिहासिक। मेरे लेख का अभिप्राय तो खो ही गया है।

यशदेव शल्य (समीक्षा) :- पांडे जी के इस लेख के अनुसार तत्त्वमीमांसा को साक्षात्कारात्मक प्रज्ञा में आभासित तत्त्व का बौद्धिक प्रतीकों में अवधारण और विवेचन कहा जा सकता है। उनके शब्दों में "तत्त्वमीमांसा छाया-ग्राहिणी के शिकंजे में न फँसकर बुद्धि की भवसागर के पार उड़ान थी।..... वह आत्माराम सत्य का बुद्धिवाहित संदेश थी।" इन दोनों वाक्यों में 'तत्त्वमीमांसा' साक्षात्कृत तत्त्व के बुद्धिवाहित रूप को कहा गया है किन्तु इनमें बुद्धि और साक्षात्कार का सम्बन्ध परस्पर विपरीत प्रकार का है : प्रथम के अनुसार बुद्धि प्रत्यङ्मुखता की दिशा में अपना अतिक्रमण

कर साक्षात्कार में समाहित होती है। और दूसरे के अनुसार साक्षात्कारात्मक चित् बुद्धि में उन्मिषित अथवा आभासित होता है। इनमें से वे किस व्यापार को तत्त्वमीमांसा कहते हैं ? या कि उनके अनुसार दोनों व्यापार तत्त्वमीमांसा हैं ? यह बात पूरी तरह स्पष्ट नहीं है। यहाँ कहा जा सकता है कि बुद्धि के ये दोनों व्यापार परस्पर पूरक हैं और इस प्रकार दोनों संयुक्त रूप से, और पृथक्-पृथक् भी, तत्त्वमीमांसा हैं। हमें यह मत पूर्णत: मान्य है। किन्तु इस मत के प्रतिपादन के क्रम में पांडे जी ने कुछ बातें कहीं हैं जो कठिनाई उत्पन्न करती हैं। यों वास्तव में यह किसी भी लेख के साथ होता है कि गहराई से देखने पर उसमें दूसरों को कुछ कठिनाइयाँ दिखायी देती हैं। इस प्रकार यह इस अत्युत्कृष्ट लेख का कोई दोष नहीं है।

सर्वप्रथम, यहाँ कठिनाई साक्षात्कार्य तत्त्व के स्वरूप और उस तत्त्व के बौद्धिक अवगमन-गत स्वरूप को लेकर है। पांडे जी प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में कहते हैं : ''वस्तुत: प्रत्यक्ष आत्मानुभूति को ही मानना चाहिए।'' यहाँ स्पष्टत: उनका अभिप्राय है कि प्रत्यक्ष केवल तत्त्व-साक्षात्कार है और वह आत्मानुभूति से अभिन्न होता है। तब यहाँ प्रश्न है कि इस प्रत्यक्ष का कोई बाह्य विषय भी होता है या कि वह ज्ञान-ज्ञेय-भेद से रहित, निर्विषय और अखंड होता है ? दया जी की आलोचना पर टिप्पणी में पांडे जी ने आत्मानुभूति को अनंत और अखंड ही कहा है। किन्तु यदि यह निर्विषय होता है तो साक्षात्कार और साक्षात्कार्य : प्रत्यक्ष और तत्त्व: अभिन्न हो जाते हैं। किन्तु पांडे जी यह भी कहते हैं कि ''तत्त्व अपरोक्षानुभूति में प्रकाशित सत् है।'' ब्रब क्या पांडे जी यह कहना चाहते हैं कि अपरोक्षानुभूति और सत् पृथक्-पृथक् हैं या यह कि अपरोक्षानुभूति एक साथ चित् और सत् दोनों होती है ? उदाहरणत: मेरी मान्यता यह दूसरी है, जैसाकि मैंने अपने लेख ''तत्त्वमीमांसा और उसका औचित्य'' में, और अन्यत्र भी विशद रूप से प्रतिपादि किया है। किन्तु पांडे जी के इस लेख में ऐसा प्रतीत नहीं होता। कम से कम यह स्पष्ट नहीं है। इस प्रसंग में उनका निम्न कथन विचारणीय है : ''इस स्थिति में आर्ष प्रज्ञा आध्यात्मिक तत्त्वों का निरूपण सांकेतिक भाषा में करती थी जो कि प्राचीन देव विद्याओं में उपलब्ध होता है। इनमें तत्त्व-निर्देश सृष्टि-प्रक्रिया के निर्देशन के रूप में मिलता है।'' यह प्रतिपादन अत्यधिक अस्पष्ट है क्योंकि सृष्टि-प्रक्रिया का निरूपण वेद, उपनिषद्, सांख्य, वेदान्त और पुराणों में एक-सा नहीं मिलता। यह कठिनाई इस प्रक्रिया के निरूपण को देव-विद्या के साथ मिला देने से और बढ़ जाती है, क्योंकि यदि उपनिषद् के सृष्टि-विषयक विचार को ''एकोऽहं बहुस्याम'' अथवा ''स आत्मानं स्वयंकुरुत'' आदि में संगृहीत माना जाए तो देव-विद्या से इसका समन्वय दुस्साध्य होगा, यद्यपि उन लोगों ने यह समन्वय बैठाने का प्रयत्न किया है जो वेद, उपनिषद्, स्मृति और पुराण में एकवाक्यता सिद्ध करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। यह

कठिनाई इस कारण बढ़ जाती है कि ''तत्त्वों को चैतन्य-सम्पन्न और अतएव देवता'' मानने का अर्थ है कि भौतिक तत्त्व चैतन्य में अनपचेय है, विषय चित्र की विषय-वृत्ति नहीं बल्कि स्वतंत्र वस्तु है जिसमें आत्मा एक दूसरी वस्तु के रूप में रहती है। कम से कम वेद में देवता का अर्थ यही है। किन्तु देव-विद्या का चाहे जो भी अर्थ मानें उसे ''आर्ष प्रज्ञा द्वारा आध्यात्मिक तत्त्वों का सांकेतिक निरूपण'' कहने की बात युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती, क्योंकि आध्यात्मिक तत्त्वों का न्यूनतम भ्रामक निरूपण अमूर्त पदावली में अथवा उलटबांसियों की स्पष्टत: आत्मोत्क्रमणात्मक भाषा में ही सही हो सकता है, देवता आदि की वस्तुपरकपदावली में नहीं। वैदिक आर्ष प्रज्ञा को आत्मानुभूतिपरक-आत्म-साक्षात्कारात्मक कहने के बजाय ऐसी वैश्व प्रज्ञा कहना उपयुक्त होगा जिसके विश्व का स्वरूप आधिभौतिक के बजाय आधिदैविक-आध्यात्मिक है।

किन्तु यहाँ यदि इस मतभेद को छोड़ भी दें तो भी एक दूसरी महत्त्वपूर्ण कठिनाई उपस्थित होती है और वह यह कि '' आर्ष प्रज्ञा द्वारा आध्यात्मिक तत्त्वों के उस सांकेतिक निरूपण'' को तत्त्वमीमांसा कहा जा सकता है ? यदि हाँ, तो प्रश्न होगा कि पांडे जी नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग, ईश्वरकृष्ण और शंकर आदि को तत्त्वमीमांसक मानते हैं या कि वैदिक ऋषियों को ? यहाँ उनका ''तत्त्वमीमांसा के जन्म'' का निरूपण द्रष्टव्य है। वे कहते हैं – ''अतएव तत्त्व को अपरोक्षानुभूति में प्रकाशित सत् के अतिरिक्त और कुछ परमार्थत: नहीं माना जा सकता। इस सत् के संप्रेषण के लिए शुद्ध बुद्धि तत् को नाना सांकेतिक तत्त्वों का रूप देती है। यही वास्तविक तत्त्वमीमांसा का जन्म है।'' यहाँ ऐसा प्रतीत होता है जैसे मानो वे ''आर्ष प्रज्ञा द्वारा आध्यात्मिक तत्त्वों के सांकेतिक निरूपण'' वाली बात ही पुन: कह रहे हों और 'शुद्ध बुद्धि' पद 'आर्ष प्रज्ञा' का ही पर्यायवाची हो। इस प्रसंग में उनका अगला वाक्य इसकी पुष्टि करता प्रतीत होता है –''आत्म-विद्या से आविर्भूत बुद्धयात्मक तत्त्वमीमांसा पदार्थ-विद्या में तिरोहित हो जाती है।'' यह वाक्य अपने आप में बहुत समस्यात्मक है क्योंकि ' आत्म-विद्या से आविर्भूत तत्त्वमीमांसा पद 'आत्माराम' का बुद्धिवाहित संदेश' का पर्यायवाची ही प्रतीत होता है किन्तु इस वाक्य का शेष भाग इस अर्थ का बाधक है। इसलिए इसका अर्थ यह होना चाहिए कि 'आत्म-साक्षात्कारात्मक दृष्टि जब युक्ति-तर्क, प्रमाण-प्रमेय-परीक्षा में पराङ्मुख हो जाती है तब वह पदार्थ-विद्या हो जाती है, वास्तव में तत्त्वमीमांसी दृष्टि नहीं रहती।' किन्तु तब क्या यह माना जाय कि पांडे जी के अनुसार 'आर्ष प्रज्ञा का देव-विद्यापरक सांकेतिक निरूपण' सम्यक तत्त्वमीमांसा है और उस प्रज्ञा का युक्ति-तर्क-परक विवेचन भ्रष्ट तत्त्वमीमांसा ? किन्तु डॉ. दयाकृष्ण की आलोचना का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि ''मैं भी उन्हें (विज्ञान और तत्त्वमीमांसा को) बुद्धि के ही क्षेत्र में रखता हूँ पर विज्ञान और तत्त्वमीमांसा

को एक कोटि में नहीं रखता।" आगे वे आत्मानुभूति और तत्त्वमीमांसा के परस्पर सम्बन्ध के विषय में कहते हैं : "आत्मानुभूति स्वरूपतया अनन्त और अखंड होने से मन और वाक् के परे मानी गई है। उसे लौकिक प्रत्यक्ष एवं विकल्पात्मक ज्ञान के समान एक अथवा अनेक नहीं कहा जा सकता। सौपाधिक रूप से ही वह मनोगोचर कही जा सकती है और इसी रूप में वह तत्त्वमीमांसा को विविध वैयक्तिक, सांप्रदायिक और ऐतिहासिक परिधान देती है।" यहाँ यह बात निस्संदिग्ध रूप से स्पष्ट है कि पांडे जी तत्त्वमीमांसा को बुद्धि के क्षेत्र में ही रखते हैं जो बुद्धि आत्मानुभूति को लक्षित करती है। किन्तु तब यह बात उनके लेख में वैसी स्पष्ट नहीं है।

इसके अनन्तर दो प्रश्न और हैं जो विचारणीय हैं। प्रथम यह कि आत्मानुभूति स्वयं में पूर्ण है या कि वह इतर सत् की प्रापक अथवा उसकी संकेतक है ? पांडे जी ने अपने लेख में इस पर विचार नहीं किया है किन्तु दयाजी की एक आपत्ति के उत्तर में वे कहते हैं कि "यदि अनुभूति अपने लिए ही प्रमाण है, अपने विषय के लिए नहीं, तो प्रत्यक्ष (लौकिक और आध्यात्मिक) को प्रमाण-कोटि से हटाना होगा और उस अवस्था में कोई भी वस्तु-सत् प्रमेय सिद्ध नहीं हो सकेगा। यह सही है, किन्तु तब क्या आत्मानुभूति किसी अन्य प्रमेय के लिए प्रमाणभूत होती है ? कहा जा सकता है कि वे ऐसा मानते हैं और इसकी पुष्टि में उनके निम्न प्रकारक वाक्य उद्धृत किये जा सकते हैं : "ऐन्द्रिय विश्व का आधारभूत तत्त्व अतीन्द्रिय है, इस विश्वास को आध्यात्मिक अनुभूति ही प्रमाणित कर सकती है।" किन्तु कैसे ? 'ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष भौतिक वस्तु के लिए प्रमाण है, यह ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष में निहित गुण या लक्षण नहीं है, यह गुण निम्न स्तर पर सहज जैव प्रवृत्तिमूलक और उच्चतर स्तर पर अध्यवसायात्मक बुद्धिमूलक है। तब आत्मानुभूति की अतीन्द्रिय आधार-तत्त्व के लिए प्रमाण-भूतता किसमें निहित है ? आत्मानुभूति में या कि बुद्धि में ? जहाँ तक भारतीय दर्शन और साधना-परंपरा का प्रश्न है, वह आत्मानुभूति में प्रमाण-प्रमेय व्यवहार नहीं मानती और जब पांडे जी उसे 'अनन्त' और 'अखंड' कहते हैं तब उनको भी यही अभिप्रेत है। इस कारण पांडे जी का आत्मानुभूति को अन्य प्रमेय के लिए प्रमाण कहना स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखता है। यहाँ वास्तव में बहुत सी समस्याएँ हैं जिनकी ओर यहाँ हम केवल संकेत ही कर सकते हैं , इन पर विस्तृत चर्चा हमारी पुस्तक सत्ता विषयक अन्वीक्षा में और "तत्त्वमीमांसा और उसका औचित्य" लेख में हुई है। चित् के दो स्तर कहे जा सकते हैं : शुद्ध सदवस्था और प्रज्ञप्व्यवस्था। चित् की शुद्ध सदवस्था उसकी प्रज्ञप्ति-प्रज्ञप्त में अनुद्भिन्नावस्था है जबकि दूसरी उद्भिन्नावस्था। पूर्ण निद्रा और संभवत: सहज जैव प्रवृत्ति की अवस्था भी उसकी ऐसी ही अनुद्भिन्न सदवस्था कही जा सकती है। एक अन्य प्रकार से निर्विषय कृत चित्स्थति, ब्राह्म या कैवल्य की स्थिति भी इसी कोटि में मानी जाती है।

वास्तव में कुछ लोग शुद्ध आत्मानुभूति को भी इसी कोटि में मानते हैं और पांडे जी जब उसे "अनन्त-अखंड" कहते हैं तब वे भी इसे इसी रूप में निरूपित कर रहे हैं ऐसा प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था में उसे किसी सत् प्रमेय के लिए प्रमाण कहना युक्तियुक्त नहीं होगा। इस पर पांडे जी यह कह सकते हैं कि आत्मानुभूति की अतीन्द्रिय आधार-तत्त्व के लिए प्रमाणभूतता प्रमाण-प्रमेय व्यवहारात्मक नहीं है क्योंकि वह व्यवहार बुद्धि का विषय है, वह प्रमाणभूतता उसका स्वरूप है। हमें इसे स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं दिखती। किन्तु तब यहाँ एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि हम कैसे जानें कि कोई अवस्था वास्तव में आत्मानुभूति की ही अवस्था है ? मादक द्रव्यों के सेवन से भी एक निर्विषय सुखावस्था की बात सुनी जाती है जिसे हम आत्मानुभूत्यात्मक अतीन्द्रिय आनन्दावस्था समझ सकते हैं, आत्मानुभूति की प्राप्ति की साधना में भी हम भ्रांतिवश किसी अन्य स्थिति को आत्मानुभूति की स्थिति समझ सकते हैं। हमारे विचार में यहीं तत्त्वमीमांसा के लिए अवकाश है। इस प्रकार की आत्म-सम्बद्ध भ्रांतियों का निवारण युक्त-विमर्श, युक्त मनन के द्वारा ही साध्य होता है। इसे एक उदाहरण से हम स्पष्ट करेंगे। मेरा अमुक कर्म उचित था या नहीं यह संशय उपस्थित होने पर हमारे लिए यह देखना आवश्यक होता है कि मैंने वह कार्य क्रोध, स्वार्थ, भय या अहंकारवश तो नहीं किया है ? इस पर कहा जा सकता है कि कर्म के औचित्य निर्णय में बाह्य परिस्थितियाँ भी प्रासंगिक होती हैं। अवश्य होती हैं, किन्तु वहाँ भी यह देखना ही आवश्यक होता है कि मैंने परिस्थितियों का विवेचन और अनुसन्धान सम्यक् चित्त से किया था या नहीं ? उदाहरण के लिए युद्ध में कोई सैनिक पीछे हटने का निर्णय करता है। यह निर्णय नैतिक दृष्टि से उचित था या नहीं इसके लिए कसौटी केवल यह देखना है कि उसके लिए परिस्थितियों के विवेचन में वह अचेतन रूप से भय आदि से तो प्रभावित नहीं था ? वह निर्णय उसने भय वश नहीं किया यह प्रामाणिक रूप से केवल वह सैनिक ही जान सकता है, किन्तु अधिकांश में यह स्वयं उसके लिए भी जानना अत्यधिक दुस्साध्य होता है, इसके लिए उसे आत्मा में प्रतिष्ठित होने की बहुत बड़ी साधना करनी होती है। यह साधना प्रत्यङ्मुख बुद्धि के विवेचन के रूप में ही होती है। जब इस विवेचन का विषय विशिष्ट नहीं होकर सामान्य होता है तब हम तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में होते हैं। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि ऐसे प्रश्नों पर विचार कि 'केवल व्यष्टि ही सत् है या केवल जाति, अथवा दोनों ?' भी तत्त्वमीमांसा का क्षेत्र है या नहीं ? हमारे विचार में ये प्रश्न भी तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र के अन्तर्गत ही हैं, क्योंकि तत्त्व के स्वरूप पर पूर्ण विचार इन प्रश्नों की उपेक्षा नहीं कर सकता, किन्तु पृथक्त: ये प्रश्न आनुषंगिक ही, कभी-कभी अपकारी भी, माने जाने चाहिए, क्योंकि ये मुख्य मान लेने पर आत्म-तत्त्व पर विचार और अनात्म से उसका विवेक दृष्टि-ओझल हो जाता है।

इसे ही पांडेजी ने मध्युगीन तत्त्वमीमांसा कहा है। उसका दोष यही है कि उसमें ये प्रश्न मुख्य और आत्म-विचार गौण हो गया था। और मूर, रसल प्रभृति आधुनिक पाश्चात्य चिन्तक तो इन प्रश्नों को ही, और पृथक्-पृथक् रूप से, विचारणीय समझते हैं। ऐसे में तो तत्त्वमीमांसा, और वास्तव में दार्शनिक कर्म मात्र, अपने गम्भीर अर्थ में समाप्त हो जाता है।

संदर्भ एवं पाद टिप्पणी

1. *सम्बन्धों की 'आन्तरिकता' पर द्रष्टव्य, मूर, फिलॉसफिकल स्टडीज, पृ. 276 और आगे। श्री हर्ष ने सम्बन्ध मात्र का खण्डन किया है-खण्डनखंड-खाद्य. 4.62*
2. *इस युक्ति को पॉपर ने हिस्टॉरिसिज्म के खण्डन के लिए उद्भावित किया था।*
3. *वैज्ञानिक पद्धति को हाइपोथेटिको-डिडक्टिव कहने का यही तात्पर्य है।*
4. *द्रष्टव्य, ह्यूम, ए ट्रीटिज ऑफ ह्यूमन नेचर, 1.3.3*
5. *तुलनीय, कांट, क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन (एवरीमेन्स), पृ. 18*
6. *कौंत, पॉजिटिव फिलासफी, जि. I. अध्याय।*
7. *तु. प्लातोन्, रिपब्लिक (जॉवेट), 7.514*
8. *प्रतिभास और विकल्प पर द्रष्टव्य, धर्मकीर्ति, न्यायबिन्दु-अभिलाप संसर्ग योग्य प्रतिभास प्रतितिः कल्पना।*
9. *तुलनीय, कठोपनिषद् 4.1, और श्री कृष्ण प्रेम, योग ऑफ दि कठोपनिषद् पृ. 182।*
10. *तुलनीय, श्रीकृष्ण प्रेम, वही पृ. 11.12*
11. *तुलनीय,श्री माधव आशीष, मैन दि सन् ऑव मैन*
12. *यही ब्रह्मसूत्रों में प्रतिपादित है जबकि 'वायु' आदि के रूप में मूल तत्त्व के निर्धारण को अरस्तू, भौतिक तत्त्व के रूप में निर्धारित मानते थे (द्रष्टव्य, मेटाफिजिक्स, एवरीमेन्स,पृ. 57), वेदान्त सूत्रों में उनको ब्रह्म की उपासना के सन्दर्भ में ही लिया गया है।*
13. *तुलनीय, वात्स्यायनभाष्य,न्यायसूत्र 1.1 पर*
14. *'मध्यकालीन' से तात्पर्य यहाँ सूत्रों के युग से है जो श्रुति एवं भाष्यों के मध्य में अवस्थित है।*
15. *"मैंने ज्ञान को सीमित कर विश्वास के लिए स्थान बनाया है," कांट के इस कथन में इसी प्रकार का तात्पर्य है। तुलनीय एवं द्रष्टव्य शांकरभाष्य, ब्रह्मसूत्र, 2.1.11.*

SOURCES

1. *The Nature and value of Metaphysics, Philosophical Quarterly 1942, Institute of Philosophy, Amalner. Presidential Address, Logic and Metaphysics Section IPC, 1941-* ***T.R.V. Murti***
2. *The Nature of Reflection in Metaphysics, From the collection of his papers entitled Philosophy, Logic and Language.* ***-K. D. Bhattacharya***
3. *Metaphysics, Subjectivity and Myth, Presidential Address, Metaphysics and Epistemology Section IPC, 1971.-* ***A.K. Chatterjee***
4. *The Meaning of Metaphysics, Annual of CASP Madras University, 1967-* ***R.K. Tripathi***
5. *The Meaning of Metaphysics, From the Collection of his papers entitled Studies in Philosophy and Religion.* ***- R.S. Mishra***
6. *The Unspeakable in Metaphysics, Presidential Address, Logic and Metaphysics Section IPC, 1969.* ***- R.K. Tripathi***
7. *Non-speculative Metaphysics, Anvikshiki Volume II No. 1 Jan. Department of Philosophy, Banaras Hindu University 1969* ***- A.K. Chatterjee***
8. *Non-speculative Metaphysics, Anvikshiki Volume II No. 1 Jan. Department of Philosophy, Banaras Hindu University 1969* ***- R.K. Tripathi***
9. *Non-speculative Metaphysics, From the collection of his papers entitled Philosophy Religion and Culture.* ***- N.K. Devaraja***
10. *Metaphysics in yet Another Key, Presidential Address, U.P. Darshan Parishad, 1980.* ***- S.S. Roy***
11. *Re-emergence of Metaphysics, Invited paper specially for this volume* ***- D.N. Dwivedi***
12. *Irrefutability of Metaphysics, From the collection of his papers entitled Wither Indian Philosophy.* ***- S.L. Pandey***
13. *Survival of Metaphysics, Presented in Symposium, I.P.C. 1967-* ***G.C. Nayak***
14. *Tarknishtha Pratyakshavada Ka Adhyatma Shastra Ke Prati Vidroha -1, Darshanik Traimasik year -1 January, 1955, Vol. 4* ***- Shriram Madhava Chingle***
15. *Tarknishtha Pratyakshavada Ka Adhyatma Shastra Ke Prati Virodh-2 Darshanik Traimasik year-2 January, 1956,Vol.1-* ***Shriram Madhava Chingle***
16. *Tarkatmaka Bhavavada Dwara Tattvamimamsa Ka Pratyakhyana, From Anubhavavada, edited by Yashdeva Shalya* ***- Narayan Murti***

IN DEFENCE OF METAPHYSICS

Indian Encounter with Logical Positivism

Edited by
Ambika Datta Sharma
Sanjay Kumar Shukla

Vishwavidyalaya Prakashan, Sagar
M.P. (India)

IN DEFENCE OF METAPHYSICS

Indian Encounter with Logical Positivism

Ambika Datta Sharma
Sanjay Kumar Shukla

© Publisher

FIRST EDITION 2008

ISBN-81-88289-32-9

Price 800

Published by
Vishwavidyalaya Prakashan, Sagar
247, Jawaharganj, Sagar - 470002 (M.P.)
© 07582-243598

Laser Composing
Active Computers
Sagar-470002 (M.P.)
Mob. 9826434225

CONTENTS

Preface

Section I 9-64

Introduction

1. A Plea for the Defence of Metaphysics 11
   Ambika Datta Sharma
   Sanjay Kumar Shukla

Section II 65-240

The Meaning and Purpose of Metaphysics

2. The Nature and Value of Metaphysics 67
   T.R.V. Murti
3. The Nature of Reflection in Metaphysics 81
   K.D. Bhattacharya
4. Metaphysics, Subjectivity and Myth 108
   A.K. Chatterjee
5. The Meaning of Metaphysics 122
   R.K. Tripathi
6. The Meaning of Metaphysics 131
   R.S. Mishra
7. The Unspeakable in Metaphysics 140
   R.K. Tripathi
8. Non-speculative Metaphysics 154
   A.K. Chatterjee
9. Non-speculative Metaphysics 160
   R.K. Tripathi
10. Non-speculative Metaphysics 167
    N.K. Devaraj
11. Metaphysics in yet Another Key 179
    S.S. Roy
12. Re-emergence of Metaphysics 203
    D.N. Dwivedi
13. Irrefutability of Metaphysics 218
    S.L. Pandey
14. Survival of Metaphysics 226
    G.C. Nayak